सामाजिक रूप से वंचित लोग और तथ्य

पायल अग्रवाल

यह लेख पाठ्यपुस्तकों की तथा कक्षा में उन पर आधारित अध्ययन-अध्यापन की पड़ताल करता है, जो अकसर एक-दूसरे के इतने विपरीत और प्रतिकूल होते हैं कि पाठ्यपुस्तक द्वारा किए जाने वाले दावे कक्षा में होने वाली विवेचनाओं के माध्यम से एकदम उलट जाते हैं। एनसीएफ, 2005 के बाद भी कुछ पाठ्यपुस्तकें इस सर्वव्यापी दृष्टिकोण से पूर्णतः मुक्त प्रतीत नहीं होतीं कि वंचित लोग अपनी दुर्दशा के लिए खुद ज़िम्मेदार हैं और कक्षाओं के भीतर होने वाली पढ़ाई से इस दृष्टिकोण को और भी बल मिल जाता है।

शिक्षा लोकतांत्रीकरण की प्रक्रिया है, ऐसी प्रक्रिया जिसका लक्ष्य होता है समाज में समता लाना और लोगों के विभिन्न वर्गों तथा समुदायों के बीच के सामाजिक भेद को मिटाना। राष्ट्रीय पाठ्यक्रम की रूपरेखा (एनसीएफ, 2005) में शिक्षा के इस उद्देश्य पर ज़ोर दिया गया है। सामाजिक विज्ञान शिक्षण का पोज़ीशन पेपर भी इस बात पर ज़ोर देता है। परन्तु नीति-पत्रों में कही गई बातें धरातल के स्तर पर बिलकुल अलग शकल ले सकती हैं। नए पाठ्यक्रम ढाँचे की पाठ्यपुस्तकों तथा कक्षा में होने वाली पढ़ाई पर पड़ने वाले असर को लेकर मुझे काफी लम्बे समय से कौतूहल था, खासतौर से सामाजिक विज्ञान के सन्दर्भ में। पिछले वर्ष मुझे सामाजिक विज्ञान की एक कक्षा[1] का अवलोकन करने का मौका मिला जिसके माध्यम से मैंने यह देखने की कोशिश की कि एनसीएफ के उद्देश्य दरअसल, कक्षा के धरातल पर क्या शकल ले रहे हैं। इस अध्ययन के लिए जो पाठ्यपुस्तक मैंने चुनी, वह एक निजी प्रकाशक[2] की, कक्षा-8 की नागरिक शास्त्र की किताब है।

---

[1] यह कक्षा-अवलोकन नहान, हिमाचल प्रदेश के एक आर्मी स्कूल में किया गया।

[2] होली फेथ, 2007; इसकी भूमिका में कहा गया है कि इसे एनसीएफ, 2005 को आधार बनाकर लिखा गया है।

इस लेख में मैं पाठ्यक्रम की रूपरेखा और शिक्षक तथा पाठ्यपुस्तक के बीच की कड़ियों पर ध्यान दूँगी। अकसर कहा जाता है कि पाठ्यक्रम की रूपरेखा ऐसे विस्तृत दिशा-निर्देश प्रदान करती है जिन को आधार बनाकर पाठ्यपुस्तकें तैयार की जाती हैं। ये पाठ्यपुस्तकें कक्षा में होने वाले अध्ययन-अध्यापन का आधार बनाती हैं। लेकिन, वास्तविक जीवन में स्थिति कहीं अधिक पेचीदा होती है क्योंकि पाठ्यक्रम की रूपरेखा से विद्यार्थियों तक का रास्ता कोई सीधा-सीधा मार्ग नहीं होता। यह एक गतिमान प्रक्रिया है जिसमें कई कारक आपस में गुँथे हुए होते हैं जो इसके प्रवाह का मार्ग तय करते हैं। इस लेख में (1) पढ़ाई गई विषयवस्तु; और (2) उसे पढ़ाए जाने की प्रक्रिया का विश्लेषण करके इनमें से कुछ कारकों की पड़ताल की गई है।

पाठ्यपुस्तक की भूमिका

शिक्षक द्वारा 'सामाजिक न्याय और वंचित लोग' अध्याय पढ़ाया जा रहा था। उसमें निम्नलिखित खण्ड शामिल थे,

- वंचित वर्ग/अनुसूचित जाति, अनुसूचित जनजाति, अन्य पिछड़ा वर्ग, अल्पसंख्यक
- सामाजिक असमानता के प्रकार/जातीय असमानता, लैंगिक असमानता, शैक्षिक असमानता, क्षेत्रीय असमानता
- आर्थिक असमानताओं पर पड़ने वाले सामाजिक असमानताओं के प्रभाव, पेशों के चयन में असमानता, आय में असमानता
- सामाजिक न्याय से जुड़े संवैधानिक प्रावधान
- आरक्षण
- अस्पृश्यता/अस्पृश्यता के विभिन्न प्रकार, मनुष्यों द्वारा हाथ से मैला साफ करना
- हाथ से मैला साफ करने की प्रथा से सम्बन्धित कानून

जिस कक्षा का मैंने अवलोकन किया, उसका यथार्थ देखने का मुख्य तरीका पाठ्यपुस्तकें ही थीं और वे उन्हें पढ़ने वालों (शिक्षक व विद्यार्थी, दोनों) के अनुभवों से ऊपर प्रतीत होती थीं। पाठ्यपुस्तक की विषयवस्तु को चुनौती देने का सवाल ही नहीं था परन्तु यह ज़रूर देखा गया कि पाठ्य का अर्थ क्या लगाया जाए, यह शिक्षक ही तय करता है। उदाहरण के लिए:

शिक्षिका ने कहा, "जाति पर आधारित शोषण अतीत की बात है और अब सरकारी नीतियों की वजह से कहीं अधिक समानता है। लोगों को चारों तरफ जो असमानता दिखाई देती है वह वर्ग-आधारित है और जो

विकास की निचली सीढ़ी पर खड़े हैं वे अपने ही आलस्य और अक्षमता के कारण कष्ट झेल रहे हैं। यदि वे चाहें तो वे भी और ज़्यादा शिक्षित होकर अपना जीवन स्तर बेहतर बना सकते हैं।"

बच्चों को इस तरह से समझाते हुए शिक्षिका को पाठ में एक उदाहरण दिखाई दिया जो इस दृष्टिकोण के विरुद्ध था। इस पाठ में बताया गया है कि किस तरह सुनामी के दौरान दलितों को खाद्य आपूर्ति नहीं हुई क्योंकि आपूर्तिकर्ता अकसर उनके पास पहुँचने को तैयार नहीं होते थे। हमें 1947 में आज़ादी मिली, अस्पृश्यता को 1950 के दशक के दौरान कानून बनाकर उन्मूलित कर दिया गया, पर व्यवहार में वह आज भी हमारे समाज में मौजूद है।

अपने कथन और पाठ के वर्णन में आए विरोधाभासों को दूर करने के लिए, शिक्षिका ने कहा कि "अस्पृश्यता हमारे देश के पिछड़े इलाकों/पिछड़े गाँवों - में मौजूद है, परन्तु शहरी क्षेत्रों में बिरले ही इस तरह का आचरण दिखाई देता है। हालाँकि, शहरी क्षेत्रों में अस्पृश्यता की मौजूदगी के कुछ प्रमाण दिखाई दे सकते हैं जैसे कि उपवास के दिन किसी मेहतर के हाथों पानी न पीना या उन लोगों के लिए पृथक बरतन रखना," पर वे बोलीं कि इस तरह की घटनाएँ बिरले ही होती हैं।

उन्होंने बच्चों से भी कहा कि वे पता करें कि क्या उनके घरों में जातीय भेदभाव किया जाता है। अगले दिन जब बच्चे आए, तो उनमें से किसी ने यह नहीं कहा कि उनके घर में ऐसा होता है। उस कक्षा में ऐसी चीज़ों को स्वीकार करने की कोई जगह नहीं थी। इसके अलावा, ऐसा लगा जैसे कि बच्चों ने इसके बारे में अपने माता-पिता या दादा-दादी से पूछा तक नहीं है। इस प्रश्न को उस किस्म का महत्व नहीं दिया गया जैसा कि अध्याय के अन्त में दिए जाने वाले प्रश्नों के उत्तर लिखने को दिया जाता है।

यह भी मान कर चला जा रहा था कि जानने योग्य सारे सम्बन्धित ज्ञान के बारे में शोध करके उसे पाठ्यपुस्तक का हिस्सा बना लिया गया है। ऐसा नया कुछ भी नहीं ढूँढ़ा जा सकता जो कि पाठ्यपुस्तक में नहीं लिखा है। हालाँकि, शिक्षिका ने पाठ्यपुस्तक से बाहर के कई उदाहरण दिए - अखबारों से या उस स्थान विशेष से, पर उसकी कोशिश पाठ्यपुस्तक में दिए गए दृष्टिकोण पर ज़ोर देने की ही थी। पाठ्यपुस्तक के दृष्टिकोण के विरुद्ध तर्क देने वाला कोई उदाहरण उनकी तरफ से नहीं दिया गया। बच्चों को कक्षा के भीतर किसी भी तरह की बहस या चर्चा के लिए भी

प्रेरित नहीं किया गया। परन्तु फिर भी, शिक्षिका द्वारा अपने ही ढंग से पाठ का अर्थ लगाया जा रहा था। नीचे आने वाले खण्डों में मैं ऐसे दो उदाहरणों की चर्चा करूँगी जहाँ शिक्षिका ने पाठ्यपुस्तक में दिए गए सन्देश का बिलकुल उलटा ही अर्थ लगा लिया।

इसके अलावा मैं यह भी महसूस करती हूँ कि किसी भी पाठ का कई तरीकों से उपयोग किया जा सकता है। शिक्षक ही यह तय करता है कि किस हिस्से को ज़्यादा महत्व देना है और किस हिस्से को बस सरसरे ढंग से बिना ज़्यादा ज़ोर दिए पढ़ जाना है। जैसा कि नीचे आने वाले खण्डों से स्पष्ट होगा, शिक्षिका का ज़ोर इस बात पर था कि किस तरह सरकार वंचित वर्गों की उन्नति की कोशिशों में लगी हुई है। उनका ध्यान वंचित वर्गों के संघर्षों पर नहीं था। कोई अन्य शिक्षक इस पाठ का अलग ढंग से उपयोग कर सकता था। इसलिए मैं इस बात पर ज़ोर देना चाहूँगी कि भले ही कक्षा पाठ्यपुस्तक के इर्द-गिर्द घूमती हो, फिर भी, कक्षा में जो कुछ भी होता है वह वहाँ हो रही प्रक्रिया में भाग लेने वालों यानी कि विद्यार्थी और शिक्षक पर निर्भर करता है।

शिक्षकों और विद्यार्थियों की भूमिका

अधिकांश समय बस शिक्षिका ही बोलती रहीं और जब बच्चे बोले तो वे सिर्फ याद्दाश्त पर आधारित प्रश्नों का उत्तर देने के लिए बोले। ज्ञान का निर्माण करने वाले सक्रिय अभिकर्ता होने की बजाय विद्यार्थी उसके निष्क्रिय ग्राहक थे। बच्चों को उनके अनुभवों पर, अपने आसपास होने वाली सामाजिक अन्तर्क्रियाओं पर चिन्तन करने का और समीक्षात्मक दृष्टि से उनका विश्लेषण करने का कोई मौका नहीं दिया गया। शिक्षिका ने बच्चों से कतई यह नहीं पूछा कि जो पढ़ाया जा रहा था क्या वे खुद को उससे जोड़ पा रहे थे या उसे प्रासंगिक पा रहे थे। विद्यार्थी भी अपने समक्ष कई सामाजिक असमानताएँ देखते हैं - हो सकता है कि उन्होंने स्वयं भी वर्ग, जाति या लिंग-आधारित भेदभाव को भोगा या देखा हो। सैनिक स्कूलों में विभिन्न पृष्ठभूमियों के बच्चे एक साथ पढ़ते हैं। इससे विद्यार्थियों को यह मौका मिल सकता था कि वे विपन्नता और सामाजिक न्याय के सम्बन्ध में विभिन्न समुदायों के अनुभवों के बारे में जान पाएँ। पर इस तरह की किसी चर्चा की पहल नहीं की गई। यह मान लिया गया कि विद्यार्थी कोरी स्लेट के माफिक हैं और उनके साथ कक्षा के बाहर के अनुभव कतई जुड़े नहीं होते। जब भी विद्यार्थियों से प्रश्न पूछा जाता तो उसका मकसद होता, पिछली कक्षाओं में याद किए गए तथ्यों की जाँच करना।

जैसे ही ब्लैकबोर्ड पर कुछ लिखा जाता, तुरन्त ही विद्यार्थियों द्वारा उसे अपनी-अपनी कॉपियों में उतार लिया जाता। ये अकसर पाठ्यपुस्तक में से निकाले गए तथ्य हुआ करते। सबका ध्यान तथ्यों पर था, न कि मुद्दों पर। उदाहरण के लिए, शिक्षिका ने कन्या-भ्रूण हत्या से सम्बन्धित आँकड़े तथा सामाजिक न्याय और विपन्नता से सम्बन्धित संवैधानिक अनुच्छेद बोर्ड पर लिख दिए। शिक्षिका ने विद्यार्थियों से उन्हें याद करने को भी कहा।

अध्याय के अन्त में दिए गए अभ्यासों का भी अपना ही महत्व था। ऐसा मालूम पड़ता था कि अध्याय को इसलिए पढ़ा जा रहा था ताकि बच्चे उसके अन्त में दिए गए प्रश्नों के उत्तर दे सकें। प्रतिदिन, अध्याय को पढ़े जाने के बाद शिक्षिका विद्यार्थियों से उन प्रश्नों के उत्तर तलाशने को कहती और फिर अगले दिन उस सवाल के सही उत्तर की कक्षा में चर्चा की जाती। और इस प्रकार यह एक रस्म अदायगी-सी हो गई थी।

संघर्ष से भरी स्थितियों से निपटना

स्कूलों में यह धारणा छिपी हुई प्रतीत होती है कि संघर्ष बुरे होते हैं और उनसे दूर रहना चाहिए। जैसा कि अगले खण्डों से स्पष्ट हो जाएगा कि यहाँ किसी भी ऐसी बात को नहीं बताया जाता जो यह दर्शाती है कि समाज में विभिन्न वर्गों के बीच सदा संघर्ष की स्थिति बनी रहती है। संघर्षों को या तो अतीत की बातें कह दिया जाता है या फिर दूर-दराज़ के गाँवों की घटनाएँ। पाठ्यपुस्तकों में यह दिखाया जाता है कि सरकार दबे हुए और सुविधाहीन लोगों को बराबर सुविधाएँ उपलब्ध करा रही है और साथ ही यह प्रक्रिया बहुत सहज ढंग से चल रही है। वंचित वर्ग और शासन के बीच का संघर्ष, किस तरह ये लोग लगातार अपने अधिकारों के लिए लड़ते रहते हैं, तथा सरकार की कौन-सी नीतियाँ व्यवहारिक रूप लेती हैं और क्यों, इन सब चीज़ों को नहीं दिखाया जाता।

पाठ्यपुस्तक की विषयवस्तु

इस खण्ड में मैं पाठ्यपुस्तकों की विषयवस्तु को देखूँगी और विश्लेषण करूँगी कि किस तरह पाठ्यपुस्तकों में और कक्षा में विभिन्न मुद्दों से निपटा जाता है।

वंचित वर्गों का चित्रण

पाठ्यपुस्तक में, और शिक्षिका द्वारा भी, वंचित वर्गों को ही उनके दमन

का कारण बताया गया। शिक्षिका द्वारा ये वक्तव्य दिए गए, “ऐसे कई लोग होते हैं जो अपने माता-पिता के काम को ही आगे जारी रखते हैं। क्या तुमने रमेश भैया को देखा है - जो स्कूल में झाड़ू लगाता है? उसकी माँ रेलवे स्टेशन पर झाड़ू लगाती है। वह अपनी माँ के पेशे का ही अनुसरण कर रहा है। यदि उसने थोड़ी पढ़ाई कर ली होती तो वह कुछ और बन सकता था, पर उसने पढ़ाई न करके अपनी माँ के पेशे को अपना लेने का आसान रास्ता चुना। ऐसे लोगों की दयनीय दशा उनके अपने कर्मों के कारण है। सरकार ने उन्हें सुविधाएँ प्रदान की हैं और प्रावधान बनाए हैं। यह उनकी गलती है कि वे सरकारी नीतियों का लाभ नहीं ले रहे हैं।” इस प्रकार यह साफ तौर पर देखा जा सकता है कि गरीब और निम्न जाति के लोगों को अपनी गरीबी के लिए स्वयं ज़िम्मेदार दर्शाया जाता है।

यह देखना भी दिलचस्प है कि किस प्रकार कक्षा में होने वाले अध्यापन के माध्यम से पाठ्यपुस्तक का अलग-अलग ढंग से अर्थ लगाया जाता है। उदाहरण के लिए, पाठ में कहा गया हैः ‘जब किसी दलित समुदाय का कोई शिक्षित युवक रोज़गार विभाग में जाता है तो उसे स्वतः ही सफाई कर्मचारी या किसी अन्य छोटे काम के लिए रख लिया जाता है। यह सामाजिक अनुकूलन हैः लोग इसी तरह सोचते हैं क्योंकि उनके लिए यह करना स्वाभाविक होता है।’

इसे समझाते हुए शिक्षिका ने कहा, “अनुसूचित जाति का व्यक्ति रोज़गार कार्यालय गया और शिक्षित होने के बावजूद खुद को सफाई कर्मचारी के काम के लिए नामांकित करा लिया। उसने ऐसा क्यों किया, यह मेरी समझ के परे है।” शिक्षिका ने अपने सामाजिक दृष्टिकोण के आधार पर पुस्तक में लिखी बात का बिलकुल ही गलत अर्थ लगा लिया। उसके अनुसार अनुसूचित जाति के व्यक्ति ने खुद सफाई कर्मचारी बनना पसन्द किया, जबकि पाठ कहता है कि रोज़गार कार्यालय के कर्मचारी ने उसे सफाई कर्मचारी के पद के लिए नामांकित किया।

यह इस बात को दर्शाने के लिए अच्छा उदाहरण हो सकता था कि कैसे जाति व्यवस्था लोगों के ज़हन में गहराई से जड़ें जमाए हुए है (जिसमें शहरों में रहने वाले शिक्षित लोग भी शामिल हैं) और संवैधानिक प्रावधानों के बावजूद किस तरह से यह मानसिकता विभिन्न रूपों में प्रकट होती है। लेकिन शिक्षिका अनुसूचित जाति के लोगों की इस दयनीय स्थिति में सुविधा-सम्पन्न वर्ग के लोगों की सहयोगी भूमिका को अनदेखा कर देती है। उसे लगता है जाति व्यवस्था का अस्तित्व अतीत की बात है और

स्वतंत्रता के बाद तो सरकार ने दलितों के उत्थान के लिए ढेर सारे प्रावधान बना दिए हैं। अब यह उन पर है कि वे इन प्रावधानों का इस्तेमाल अपनी भलाई के लिए करें। यदि वे इन प्रावधानों का इस्तेमाल नहीं कर रहे हैं, इसका मतलब है कि वे मेहनत नहीं करना चाहते।

अस्पृश्यता का मुद्दा

अस्पृश्यता पर बात करते हुए शिक्षिका ने मैला साफ करने की प्रथा का ज़िक्र किया। उसने कहा, "वे मानव-मल को खुले हाथों से साफ करते हैं। उन्हें कोई नहीं छूना चाहता। यह अस्वस्थ्यकर भी होता है। जाति की बात छोड़िए। हम जाति-वाति नहीं मानते, पर तुम्हें लगता है कि तुम उन हाथों से पीने का पानी लेना चाहोगे जिन्होंने पाखाना साफ किया हो? किसका मन करेगा पानी पीने का? कीटाणु हो सकते हैं। हम मानते हैं कि सभी लोग समान हैं, पर स्वास्थ्य एक अलग मुद्दा है। हाँ, अगर वे दस्ताने पहनकर टॉयलेट साफ करेंगे तो अलग बात है।"

यहाँ हम देख सकते हैं कि हालाँकि, शिक्षिका यह कहती है कि अस्पृश्यता बुरी बात है पर फिर वह खुद ही उन धारणाओं को मज़बूत करने के लिए एक और तर्क देती है कि इन लोगों को नहीं छुआ जाना चाहिए। मैला साफ करने वालों के दृष्टिकोण से बात करने और ऐसी प्रथा को प्रतिबन्धित करने के लिए आवाज़ उठाने की बजाय उसने मौजूदा धारणाओं के पक्ष में तर्क दे दिए। वह यह भी कहती है कि यदि सफाई करने वाला व्यक्ति दस्ताने पहने तो बात अलग हो जाएगी। पर उन्हें दस्ताने क्यों नहीं दिए जाते? उन्हें दस्ताने मुहैया कराना किसकी ज़िम्मेदारी है? ऐसा क्यों है कि प्रतिबन्धित होने के बावजूद हाथों से मैला साफ करने की प्रथा अब भी जारी है? सरकार की भूमिका क्या है? क्या वे लोग बस कानून बनाने के लिए होते हैं? इन कानूनों का पालन करवाने की ज़िम्मेदारी किसकी है? वे कौन लोग हैं जो हाथ से मैला साफ करने के लिए लोगों की नियुक्ति करते हैं? और आखिर क्यों लोग हाथ से मैला साफ करने के लिए तैयार हो जाते हैं? ये ऐसे प्रश्न हैं जिन पर कक्षा में चर्चा और बहस हो सकती थी पर इन मुद्दों को छुआ तक नहीं गया। क्योंकि ऐसे मुद्दे संघर्ष की स्थिति पैदा करते हैं और स्कूली पाठ्यक्रम हमेशा इस तरह की संघर्षपूर्ण स्थिति पैदा करने से कतराते रहे हैं *(कुमार, के, 1996; 7)*। ऐसे संघर्षों के समाधान से ही अस्पृश्यता जैसे मुद्दों की गहरी समझ पैदा होती है; बस इतना कह देने से कोई समझ नहीं बनती कि हाथ से मैला साफ करना प्रतिबन्धित है।

गाँवों का चित्रण

पाठ्यपुस्तक और शिक्षिका ने गाँवों का चित्रण ऐसे पिछड़े इलाकों के रूप में किया जहाँ जाति व लिंग के आधार पर सामाजिक भेदभाव किया जाता है। शहरी क्षेत्रों का चित्रण ऐसे शिक्षित और सभ्य लोगों के निवास-स्थानों के रूप में किया गया जो इस तरह के भेदभाव में यकीन नहीं रखते।

पाठ में लिखा गया था – *'ग्रामीण लोगों की तुलना में सामान्यतया शहरी भारतीय जाति व्यवस्था को इतना महत्व नहीं देते। सार्वजनिक यातायात साधनों और सार्वजनिक स्थानों का उपयोग करना एक ज़रूरत बन गई है, बजाय कि कोई ऐसा विशेषाधिकार होने के जिसका लाभ सिर्फ ऊँची जातियों के द्वारा उठाया जाता हो। यह शहरी जीवन की अनिवार्य स्थितियों में से एक है और इससे लोगों को एक-दूसरे के साथ घुलने-मिलने का मौका मिलता है, लेकिन ग्रामीण क्षेत्रों में आज भी जाति-आधारित भेदभाव कायम है।'* पुस्तक में एक तस्वीर दी गई है जिसमें गाँव के प्राथमिक विद्यालय को दिखाया गया है और उसके नीचे लिखा है – *'ऐसा प्रतीत होता है कि ग्रामीण प्राथमिक विद्यालयों ने बच्चों के बीच भेदभाव रखते हुए जातिवाद को कायम रखा है।'*

शिक्षिका ने पाठ्यपुस्तक की बात को यह कहते हुए और मज़बूती दे दी कि शहरी क्षेत्रों में जाति-आधारित भेदभाव कतई नहीं होता और ऐसा सिर्फ ग्रामीण क्षेत्रों में ही होता है। लिंग-आधारित भेदभाव के बारे में बात करते वक्त भी उसने कहा, "शहरी इलाकों में स्थिति भिन्न है पर ग्रामीण भारत में आज भी बहुत समस्या है।" जब मैंने बच्चों से बातचीत की तो उन्होंने भी यह कहा कि पिछड़े गाँवों में जाति/लिंग के आधार पर भेदभाव किया जाता है, जबकि शहरों में ऐसा नहीं होता।

आज भी शहरों में जाति और लिंग के आधार पर भेदभाव किया जाता है हालाँकि, उसका स्वरूप भिन्न हो सकता है। शहरों में भी लोग अन्तर्जातीय विवाह करने को राज़ी नहीं होते। अखबारों में छपने वाले वैवाहिक विज्ञापन देखने पर इसके प्रचुर उदाहरण देखने को मिल जाते हैं। शिक्षित लोग भी भेदभाव बरतते हैं। शहरों में होने वाली कन्या भ्रूण हत्याएँ डॉक्टरों की मदद के बिना नहीं हो सकतीं।

सरकार/राज्य का चित्रण

पाठ्यपुस्तक में सरकार को लोककल्याणकारी राज्य के रूप में दर्शाया गया है। शिक्षिका ने कहा, "भारत लोककल्याणकारी राज्य है, सरकार का

लक्ष्य लोककल्याण है और इसके लिए वह पल्स पोलियो अभियान, उपभोक्ता अधिकार, आपदा प्रबन्धन जैसे विभिन्न कार्यक्रम और नीतियाँ लाती है। सरकार द्वारा इन योजनाओं पर करोड़ों रुपए खर्च किए जाते हैं। यह सरकार का कर्तव्य है।"

यहाँ पर भी सरकार और समाज के बीच के संघर्ष छिपे हुए हैं। अध्याय में चर्चित मुद्दे सरकार द्वारा की गई विभिन्न कार्यवाहियों और लागू की गई नीतियों की चर्चा करने और उन पर बहस करने का मौका देते हैं। सरकार कोई कृपालु संगठन नहीं है जो हमेशा ही सही समय पर सही काम करती हो। सरकार की नीतियों और कार्यों में कई झोल होते हैं। सत्ता पर काबिज़ लोगों के छिपे हुए एजेंडे क्या हैं? किसी खास नीति को लागू करने के पीछे क्या कारण थे? उसके परिणाम क्या हुए? स्वतंत्रता प्राप्ति के इतने वर्ष बीतने, अस्पृश्यता के उन्मूलन और समानता का अधिकार होने के बावजूद हमारे समाज में इतने सारे भेदभाव क्यों व्याप्त हैं? इन सारे सवालों पर कक्षा में चर्चा नहीं की जाती।

लिंग-आधारित असमानता का चित्रण

जिस तरह कक्षा में लिंग-आधारित मुद्दों की चर्चा हुई, उससे ऐसा लगा जैसे कि लिंग-आधारित भेदभाव अतीत की बात है और आज के समय में लिंग के आधार पर किसी तरह के भेदभाव का नामोनिशान भी नहीं बचा है। लिंग से जुड़े कई पक्षों को अनछुआ ही रहने दिया गया। बच्चों को लिंग-आधारित असमानता के बारे में कुछ नहीं पता था। सतह पर देखने में तो ऐसा लगता है कि सब सामान्य है। पर अन्तर्निहित असमानता के बारे में न तो पाठ्यपुस्तक में विशेष चर्चा की गई और न ही शिक्षिका या विद्यार्थियों द्वारा उस पर सवाल उठाए गए।

बल्कि शिक्षिका, चूँकि वह यह मानती है कि शहरों में लिंग-आधारित असमानता न के बराबर है, पुस्तक में लिखे तथ्यों का बहुत अलग ढंग से अर्थ लगाकर उन्हें विद्यार्थियों को समझाती है, जैसा कि इस उदाहरण से स्पष्ट होता है। पुस्तक में लिखा है '...लिंग-आधारित असमानता आय के अन्तर को भी प्रभावित करती है। औरतों को आर्थिक गतिविधियों के कई क्षेत्रों में कम पारिश्रमिक मिलता है और संगठित क्षेत्र में रोज़गार पाने के मामले में पुरुषों की तुलना में महिलाओं का अनुपात अभी भी बहुत कम है। एक ही तरह के काम के लिए महिलाओं को पुरुषों की तुलना में औसतन 12-23% कम पैसा दिया जा रहा है। और, पदोन्नति की सीढ़ी पर महिलाएँ जितनी ऊपर चढ़ती हैं, आय का अन्तर उतना ही बड़ा होता

जाता है।"

शिक्षिका इस अनुच्छेद को यह कहते हुए समझाती है कि "महिलाओं को असंगठित क्षेत्र में ही कम पैसा मिलता है, पर सरकारी या अर्ध-सरकारी नौकरियों में ऐसा नहीं होता। लिंग-अनुपात कम है; इसलिए रोज़गार में उनका प्रतिशत भी कम होगा। महिलाएँ कम हैं तो उनका प्रतिनिधित्व भी कम होगा।"

शिक्षिका द्वारा इस तरह समझाए जाने से पहले एक छात्रा ने कहा, "लड़कियाँ रोज़गार में पीछे हैं क्योंकि उनके ऊपर घर के कामकाज की ज़िम्मेदारी होती है।" अब इस बात से कक्षा के भीतर यह चर्चा छेड़ी जा सकती थी कि किस तरह से श्रम के लिंग-आधारित बटवारे की वजह से महिलाओं को, घर के बाहर काम कर पाने की बजाय, घर के कामकाज को ज़्यादा तरजीह देना पड़ती है। महिलाओं को कम तनख्वाह दिए जाने के कारणों की भी यहाँ पर चर्चा की जा सकती थी। पर शिक्षिका ने ऐसा दर्शाया मानो यह पूरा परिदृश्य काफी गैर-पक्षपाती हो। उसका मानना है कि नौकरियों में महिलाएँ इसलिए कम हैं क्योंकि लिंग-अनुपात कम है। और इस प्रकार श्रम के लिंग-आधारित बटवारे के पीछे की राजनीति को छुआ तक नहीं गया।

शैक्षणिक असमानता

शैक्षणिक असमानता का ज़िक्र करते हुए, पाठ में भी और शिक्षिका द्वारा भी, यह कहा गया है कि ग्रामीण सरकारी स्कूलों की स्थितियाँ इसलिए इतनी खराब होती हैं क्योंकि उनका शिक्षक-विद्यार्थी अनुपात बहुत ज़्यादा होता है, और शिक्षक पर्याप्त योग्यता नहीं रखते। यदि शिक्षकों की योग्यता, उनकी उपस्थिति या शिक्षक-विद्यार्थी अनुपात किसी अच्छे स्कूल को परिभाषित करने के मानदण्ड हैं तो फिर भारत की राजधानी दिल्ली के कई स्कूल भी इन मानदण्डों को पूरा करने में असफल हो जाएँगे। यह समस्या केवल गाँवों तक ही सीमित नहीं है बल्कि नगरों में भी व्याप्त है।

इसके अलावा, निजी स्कूलों को अच्छा बताया जाता है क्योंकि उनके शिक्षण का माध्यम अँग्रेज़ी है और अच्छी नौकरी पाने के लिए जिसमें अच्छा पैसा मिलता हो, आपको अँग्रेज़ी आना ज़रूरी है। देशी भाषा में पढ़ाने वाले स्कूलों को घटिया बताया जाता है। इससे यह साफ होता है कि किस प्रकार पाठ्यपुस्तकों के माध्यम से एक खास किस्म की विचारधारा का प्रचार किया जा रहा है। भाषा की राजनीति के बारे में चर्चा करने की बजाय बच्चों को एक तटस्थ तथ्य, जिसका कि राजनीति से कोई लेना-देना नहीं

है, सिखाया-पढ़ाया जा रहा है कि अँग्रेज़ी एक श्रेष्ठतर भाषा है।

निष्कर्ष

हालाँकि, समीक्षित अध्याय एनसीएफ, 2005 पर आधारित एक किताब से लिया गया है, पर इसका स्वभाव समाज पर पारम्परिक रूप से हावी धारणाओं पर ही आधारित प्रतीत होता है। राज्य का चित्रण इसी तरह किया जाता है कि उसने तो संविधान में सभी प्रासंगिक अनुच्छेद शामिल करके, और समाज के सुविधाहीन वर्ग के लोगों के प्रति सकारात्मक पक्षपात अपनाकर अपना काम कर दिया है। अब इसका फायदा लेना वास्तव में उन लोगों के ऊपर है। लोग मेहनत से कतराने की वजह से विकास नहीं कर पा रहे हैं। नागरिक शास्त्र की पाठ्यपुस्तकों में इस तरह का लहज़ा अपनाया जाना जारी है।

इस सन्दर्भ में *माइकल ऍपल* का यह दृष्टिकोण काफी प्रासंगिक है कि किस तरह प्रभुत्वशाली वर्ग की लगातार यह कोशिश रहती है कि कमज़ोर लोगों का महज़ उल्लेख करके उनकी आवाज़ को एक छोटे-से घेरे के भीतर सीमित कर दिया जाए, लेकिन व्यापक विमर्श की रूपरेखा में कोई बदलाव न किया जाए। वह कहते हैं -

"जहाँ अधिकारों से वंचित किए गए लोग सांस्कृतिक वैधता के ऊपर होने वाली बहसों में अपने ज्ञान को प्रमुखता दिए जाने के लिए संघर्ष कर रहे हैं, वहीं पाठ्यपुस्तकों के निर्माण में एक प्रवृत्ति हावी रही है। आम तौर पर, पाठ्यपुस्तक में से सारतत्व की दृष्टि से कुछ भी नहीं बदला जाता। प्रमुख वैचारिक ढाँचों में कोई उल्लेखनीय बदलाव नहीं होता...शायद प्रगतिवादी चीज़ों का उल्लेख तो कर दिया जाता है, पर उनका गहराई से विस्तार नहीं किया जाता। अपने प्रभुत्व को अंशतः कुछ समझौते के द्वारा और कुछ प्रगतिवादी बातों का उल्लेख कर देने की प्रक्रिया के द्वारा बनाए रखा जाता है।"

ऐसा लगता है कि समीक्षित पाठ्यपुस्तकों के साथ भी ठीक यही हुआ है। हालाँकि, उनमें विभिन्न तरह के भेदभावों का उल्लेख किया गया है पर एक ही अध्याय में इतना कुछ ठूँसकर भर दिया गया है कि मुख्य मुद्दे की पर्याप्त समझ नहीं बन पाती। जैसा कि ऊपर कहा गया है, लैंगिक मुद्दों का ज़िक्र करते वक्त व्यक्तियों की लिंग-आधारित भूमिकाओं के विभाजन, लिंग-आधारित रूढ़िवादी प्रतिमानों आदि की कोई चर्चा नहीं की गई है, जिनसे बच्चों को अपनी रोज़मर्रा की ज़िन्दगी में दो-चार होना पड़ता है।

गाँवों का पिछड़े इलाकों के रूप में चित्रण करना उपनिवेशकालीन नागरिक विज्ञान शिक्षा की विरासत है जिसमें एक तरफ तो औपनिवेशिक सरकार द्वारा किए गए कार्यों (यहाँ के लोगों की भलाई के लिए) जैसे कि रेलमार्गों, टेलीग्राफ, निर्माण व खनन उद्योगों की स्थापना, नहरों का निर्माण आदि की चर्चा की जाती थी; वहीं दूसरी तरफ, यहाँ के लोगों की छवि ऐसे गैर-ज़िम्मेदार लोगों की बना दी जाती थी जो खुद की देखभाल नहीं कर सकते और इसलिए उन्हें ब्रिटिश लोगों द्वारा शिक्षित व प्रशिक्षित किए जाने की ज़रूरत थी। इस बात पर भी ज़ोर दिया जाता था कि भारतीय लोग गंदे ढंग से रहते थे और उन्हें स्वास्थ्य व स्वच्छता के सम्बन्ध में प्रशिक्षित किए जाने की ज़रूरत थी। स्वतंत्रता के बाद, इसी प्रकार की 'नागरिक शिक्षा' को भारतीय स्कूली किताबों में जारी रखा गया। मध्यम वर्गीय भारतीयों ने ब्रिटिश लोगों की भूमिका अपना ली और नागरिकों को ज़िम्मेदार, साफ-सुथरे और आज्ञाकारी बनाने की कोशिश शुरू कर दी। इन किताबों में गरीबों, महिलाओं और गाँवों के बारे में कई नकारात्मक टिप्पणियाँ की गईं। गरीबों को अपनी दशा के लिए स्वयं ज़िम्मेदार बताया गया। महिलाओं को लिंग से जुड़ी रूढ़िवादी भूमिकाओं में तो दिखाया गया, पर अकसर उनके या उनकी समस्याओं के बारे में पाठ्यपुस्तक में कोई खास चर्चा नहीं की गई। जब भी गाँवों का ज़िक्र आया तब यही दिखाने की कोशिश की गई कि ग्रामीण लोग कितने अज्ञानी और मूर्ख होते हैं।

पायल अग्रवाल: टाटा इंस्टीट्यूट ऑफ सोशल साइंसेज़, मुम्बई में एमएईई (एम.ए. इन एलीमेन्ट्री एजुकेशन) की छात्रा थीं। यह शोधपत्र 2008-09 के सामाजिक विज्ञान पाठ्यक्रम की एक अनिवार्यता के रूप में लिखा गया था। इस पाठ्यक्रम की उनकी शिक्षिका, यमुना सन्नी ने इसे सम्पादित किया है।
अँग्रेज़ी से अनुवाद: भरत त्रिपाठी: पत्रकारिता का अध्ययन। स्वतंत्र लेखन और द्विभाषिक अनुवाद करते हैं। होशंगाबाद में निवास।

सन्दर्भ:

1. ऍपल, माइकल (2000): *ऑफिशियल नॉलेज: डेमोक्रैटिक एजुकेशन इन ए कंज़र्वेटिव एज,* रटलेज, न्यूयॉर्क एंड लंदन।
2. कुमार, कृष्ण (1996): *लर्निंग फ्रॉम कॉनफ्लिक्ट,* ओरिएंट लॉंगमैन/संगम बुक्स लिमिटेड, लंदन।
3. होली फेथ इंटरनेशनल (2007): एबीसी ऑफ सोशल साइंसेज़ - सिविक्स, कक्षा-8.